मैं कौन हूँ?

भगवान
श्री रमण महर्षि
के उपदेश

अनुवाद
कमलनाथ त्रिपाठी

श्री रमणाश्रमम्
तिरुवण्णामलै

Mein Kaun Hun? – Hindi (Tr. of “Who Am I?”)

© Sri Ramanasramam
Tiruvannamalai

First Edition: 2010
3000 Copies

CC No: 3501

ISBN: 978-81-8288-121-1

Price: Rs.

Published by
V.S. Ramanan
President
Sri Ramanasramam
Tiruvannamalai 606 603
Tamil Nadu
INDIA

email: ashram@sriramanamaharshi.org
website: www.sriramanamaharshi.org

Printed by
Sudarsan Graphics
Chennai 600 017

प्रकाशकीय वक्तव्य

'मैं कौन हूँ ?' आत्म-अन्वेषण से जुड़े प्रश्नोत्तर का संग्रह है । ये प्रश्न 1902 में श्री शिवप्रकाशम् पिल्लै द्वारा भगवान रमण महर्षि से पूछे गए थे । भगवान उस समय विरूपाक्ष गुफा में मौन अवस्था में थे । उन्होंने प्रश्नों का उत्तर लिख कर दिया । प्रश्नोत्तर का यह संग्रह सर्वप्रथम 1923 में श्री पिल्लै द्वारा 'नान यार ?' शीर्षक से प्रकाशित कराया गया । बाद में यह कई बार अनेक भाषाओं में प्रकाशित हुआ । 'मैं कौन हूँ' में भगवान रमण महर्षि से पूछे गए 28 प्रश्न और उनके उत्तर हैं ।

प्रश्नोत्तर रूप में अनेक भाषाओं में अनुवादित 'नान यार ?' ('मैं कौन हूँ ?') किन्हीं कारणों से हिन्दी भाषा में प्रकाशित नहीं हो सका । हिन्दी में 'मैं कौन हूँ ?' लेख रूप में होते हुए भी प्रश्नोत्तर स्वरूप नहीं था । भगवान के अनुग्रह से हिन्दी भाषा में प्रश्नोत्तर रूप यह ग्रन्थ प्रथम बार प्रकाशित किया जा रहा है । इसमें प्रश्नोत्तर के साथ-साथ लेख रूप को भी सम्मिलित किया गया है । हमे विश्वास है कि 'मैं कौन हूँ ?' के शोध एवं बोध पर आधारित इस ग्रन्थ का राष्ट्र भाषा हिन्दी में प्रकाशन असंख्यों का मार्गदर्शन करेगा ।

वी.एस. रमणन्

1 सितम्बर 2010 — अध्यक्ष

अरुणाचल आगमन दिवस — श्री रमणाश्रमम्

मैं कौन हूँ ?
नान यार ?

सभी जीव दु:खरहित शाश्वत सुख की इच्छा रखते हैं तथा हर किसी में देखा गया है कि उसे स्वयं के प्रति सर्वाधिक प्रेम होता है । सुख ही प्रेम का कारण है, वह सुख जो स्वयं का स्वभाव है और जिसकी अनुभूति मन रहित गहन निद्रा की अवस्था में होती है, की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को **अपने स्वयं को जानना चाहिए** । उसके लिए **मैं कौन हूँ ?** का **ज्ञान विचार** ही प्रमुख साधन है ।

1. मैं कौन हूँ ?

सप्त धातुओं[1] से बना स्थूल शरीर मैं नहीं हूँ । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचों विषयों को पृथक ग्रहण करने वाले (क्रमश:) कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका- ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ । वाणी, गमन, ग्रहण, मलविसर्जन, आनन्द - ये पंचविध क्रियाएं करने वाली (क्रमश:) वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ - ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ । श्वाँसादि पंचकर्म करने वाले प्राणादि वायु पंचक भी मैं नहीं हूँ । संकल्प करने वाला मन

---

[1] सप्त धातु : रस, रक्त, माँस, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र

भी मैं नहीं हूँ । सर्व विषयों एवं सर्व कर्मों से रहित तथा केवल विषय-वासनाओं से युक्त अज्ञान भी मैं नहीं हूँ ।

2. यदि मैं इनमें से कोई नहीं हूँ तो मैं कौन हूँ ?

उपरोक्त सभी को 'नेति-नेति' से निरस्त करने के बाद जो केवल चैतन्य बचता है - **वह मैं हूँ ।**

3. उस चैतन्य का स्वरूप क्या है ?

चैतन्य का स्वरूप **सच्चिदानन्द** है ।

4. स्वरूप का दर्शन कब होगा ?

जब दृश्य जगत का लोप होता है तो स्वरूप का बोध होता है, जो द्रष्टा है ।

5. क्या दृश्य जगत के बोध (प्रतिभास) के साथ स्वरूप-दर्शन नहीं हो सकता ?

नहीं ।

6. क्यों ?

द्रष्टा और दृश्य, रज्जु और सर्प जैसे हैं । जैसे कि रस्सी का ज्ञान जो अधिष्ठान (आधार) है, तब तक उदित नहीं होगा जब तक कि काल्पनिक सर्प का मिथ्या ज्ञान नहीं चला जाता, उसी प्रकार स्वरूप-दर्शन जो अधिष्ठान (आधार) है, की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि कल्पित जगत-दृष्टि का विनाश नहीं हो जाता ।

7. दृश्य जगत-बोध का नाश कब होगा ?

मन जो सभी ज्ञान अनुभवों एवं समस्त कर्मों का कारण है, के लीन होने पर जगत का लोप हो जाएगा ।

8. मन का स्वरूप क्या है ?

जिसे मन कहते हैं, वह आत्मा में निवास करने वाली आश्चर्यजनक शक्ति है । इसी से सभी विचार उदित होते हैं । विचारों के अतिरिक्त मन जैसी कोई चीज है ही नहीं । इसलिए विचार मन का स्वरूप है । विचारों के अतिरिक्त जगत का कोई अलग अस्तित्व नहीं है । (गहन) निद्रा में जब कोई विचार नहीं होता, तब कोई जगत भी नहीं होता है । जाग्रत एवं स्वप्न की अवस्थाओं में जब विचार होते हैं, तब जगत भी होता है । जैसे मकड़ी स्वयं जाल बुनती तथा पुनः उसे वापिस खींच लेती है, उसी प्रकार मन जगत को प्रतिबिंबित करता है तथा पुनः स्वयं में स्थिर कर लेता है । मन जब स्वरूप के बाहर आता है तो जगत

प्रकट होता है । इसलिए जब जगत प्रकट होता है तब स्वरूप प्रकाशित नहीं होता और जब स्वरूप प्रकट (प्रकाशित) होता है तब जगत प्रकट नहीं होता । जब कोई मन के स्वरूप की खोज करता है तो मन विलुप्त हो जाता है और आत्मा ही रह जाता है । निरन्तर मन का अस्तित्व सदैव किसी स्थूल पर अवलंबित है, वह अकेला नहीं रह सकता । यह मन है जिसे सूक्ष्म शरीर या जीव कहते हैं ।

9. मन के स्वरूप को समझने के लिए अन्वेषण का पथ क्या है ?

शरीर में जो **'मैं'** के रूप में उदित होता है, वह मन है । जब कोई खोज करता है कि सर्वप्रथम **'मैं'** का विचार शरीर में कहाँ से उदित होता है तो उसे पता चलता है कि यह **हृदय** से उदित होता है । वह मन के उदित होने का स्रोत है । **यदि कोई लगातार 'मैं' 'मैं' सोचता है तो भी वह उस स्थान (स्रोत) पर पहुँच जाएगा** । मन में उदित होने वाले समस्त विचारों में **'मैं'** का विचार प्रथम है । **प्रथम व्यक्ति सर्वनाम** के उदित होने के बाद ही **द्वितीय एवं तृतीय सर्वनाम** प्रकट होते हैं । प्रथम वैयक्तिक सर्वनाम के बिना द्वितीय या तृतीय नहीं हो सकते ।

10. मन स्थिर (शान्त) कैसे होगा ?

मैं कौन हूँ ?, के **अन्वेषण द्वारा ही मन शान्त होगा** । 'मैं कौन हूँ', का विचार सभी अन्य विचारों को नष्ट कर देगा तथा

जिस प्रकार शव जलाने के लिए प्रयुक्त डंडा अन्त में स्वयं भी जल जाता है, उसी प्रकार यह स्वयं भी नष्ट हो जाता है । तब वहाँ स्वरूप-दर्शन होता है ।

11. मैं कौन हूँ के विचार को सदैव पकड़े रहने का तरीका क्या है ?

जब दूसरे विचार उदित होते हैं तो व्यक्ति को उन पर ध्यान नहीं देना चाहिए बल्कि अन्वेषण करना चाहिए कि वे विचार किसके लिए उदित होते हैं ; चाहे जितने भी विचार उदित होते हैं, तो क्या फर्क पड़ता है ? जैसे ही कोई विचार उदित होता है, व्यक्ति को तत्परता से खोज करनी चाहिए कि किसके लिए यह विचार उदित हुआ । उत्तर आएगा - **मेरे लिए** । इस पर जब व्यक्ति खोज करता है कि **'मैं कौन हूँ'** तो मन अपने स्रोत में वापिस चला जाता है और उदित हुआ विचार शान्त हो जाता है । इसके बारम्बार अभ्यास से मन अपने स्रोत में रहने की दक्षता विकसित कर लेता है । मन जो सूक्ष्म है, जब बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाहर जाता है तो स्थूल नाम, रूप प्रकट होते हैं और जब यह हृदय में निवास करता है तो नाम रूप विलुप्त हो जाते हैं । मन को बाहर जाने से रोककर, उसे हृदय में स्थिर करने को **अहंमुख या अन्तर्मुखी** होना कहते हैं । मन को हृदय से बाहर जाने देने को बहिर्मुखी होना कहते हैं । इस प्रकार जब मन हृदय में निवास करता है तो **'मैं'** जो सभी विचारों का मूल है, लुप्त हो जाता है और सदैव अस्तित्वमान **स्वरूप** प्रकाशित होता है । व्यक्ति चाहे जो भी करे उसे बिना 'मैं' के अहंकार के करना

चाहिए । जब कोई इस प्रकार से कर्म करता है तो उसके समक्ष सब कुछ शिव-स्वरूप के रूप में प्रकट होगा ।

12. क्या मनोनिग्रह के दूसरे उपाय नहीं हैं ?

आत्म-विचार के अतिरिक्त कोई उपयुक्त उपाय नहीं हैं । यदि दूसरे उपायों से मन: नियंत्रण का प्रयास किया जाता है तो लगता है कि मन नियंत्रित है किन्तु वह पुन: प्रकट हो जाता है । प्राणायाम के द्वारा भी मन स्थिर हो जाएगा किन्तु वह तभी तक नियंत्रित रहेगा जब तक कि प्राण नियंत्रित है और जब श्वसन आरम्भ होता है तो मन पुन: गतिशील हो जाता है तथा संचित वासनाओं के अनुरूप भटकेगा । मन और प्राण दोनों ही का स्रोत एक ही है । निश्चित ही विचार मन का स्वरूप है । **'मैं'** का विचार मन का प्रथम विचार है और यही अहंकार है । जहाँ से अहंकार उत्पन्न होता है, वहीं से श्वसन भी आरंभ होता है । इसलिए जब मन स्थिर होता है तो श्वाँस नियंत्रित हो जाता है और जब श्वाँस नियंत्रित होता है तो मन स्थिर हो जाता है । किन्तु सुषुप्ति में यद्यपि मन स्थिर रहता है किन्तु श्वाँस नहीं रुकता है । यह ईश्वरीय इच्छा के कारण है ताकि शरीर सुरक्षित रहे और लोग यह नहीं समझें कि यह मर गया है । जाग्रत एवं समाधि की अवस्थाओं में, जब मन स्थिर हो जाता है तो श्वाँस नियंत्रित रहता है । प्राण मन का स्थूल रूप है । मृत्यु के क्षण तक, मन प्राण को शरीर में रखता है । जब शरीर मर जाता है तो मन प्राण को साथ ले जाता है । इसलिए प्राणायाम का अभ्यास मनोनिग्रह में सहायक तो है किन्तु यह मन का नाश नहीं करता है ।

प्राणायाम की तरह, मूर्तिध्यान, मंत्रजप, आहार-नियमन आदि मन को स्थिर करने में सहायक हैं । मूर्तिध्यान एवं मंत्रजप से मन एकाग्र हो जाता है । मन का स्वभाव है- सदा चंचल रहना । जैसे सदा हिलते रहने वाले हाथी की सूँड़ में यदि एक जंजीर दे दी जाए तो वह हाथी जैसे किसी दूसरी चीज को पकड़ने का प्रयत्न किए बिना, उस जंजीर को ही पकड़े चलता रहता है, उसी प्रकार मन को भी किसी नाम या रूप (ईश्वर के) में अनुसक्त रहने के अभ्यास से जोड़ा जाए तो वह उसी को ग्रहण किए रहेगा । मन जब असंख्य विचारों के रूप में फैलता है तो प्रत्येक विचार अत्यन्त बलहीन होता है किन्तु विचारों के लीन (लुप्त) होते-होते ही मन एकाग्र एवं बलवान हो जाता है । ऐसे मन के लिए आत्म-अन्वेषण सरल हो जाता है । सकल नियमों में श्रेष्ठ, मित एवं सात्विक आहार है । इन नियमों के पालन से मन में सतगुण की वृद्धि होती है जो आत्म-अन्वेषण में सहायक होगा ।

13. समुद्र की लहरों की भाँति संचित विषय वासनाओं के असीमित विचार प्रकट होते हैं, वे सब कब नष्ट होंगे ?

स्वरूप-ध्यान तीव्र होते ही, वे विचार क्रमश: नष्ट हो जाएंगे ।

14. क्या आदिकाल से चली आ रही विषय-वासनाओं का विनष्ट होना तथा स्वरूप मात्र बनकर रहना संभव है ?

यह संभव है या नहीं, संदेह को स्थान दिए बिना निरन्तर स्वरूप-ध्यान में सुदृढ़ रहना चाहिए । कोई चाहे कितना बड़ा

पापी क्यों न हो, "मैं तो पापी हूँ, मेरा उद्धार कैसे हो सकता है?", यों दीन हो प्रलाप न करते हुए, मैं पापी हूँ के विचार को पूरी तरह त्यागकर यदि वह सतत् स्वरूप-ध्यान में संलग्न रहेगा तो निश्चित ही सफल होगा ।

शुभ मन और अशुभ मन, ऐसे दो मन नहीं हैं । मन एक ही है । वासनाएँ ही **शुभ** एवं **अशुभ** दो तरह की होती हैं । मन जब शुभ वासनाओं के वशीभूत होता है तब उसे **शुभ मन** कहते हैं और जब अशुभ वासनाओं के वशीभूत रहता है तब वह **अशुभ मन** कहलाता है ।

प्रपंच विषयों में मन नहीं लगाना चाहिए तथा उसे दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । दूसरे लोग कितने भी बुरे क्यों न हों, उनसे द्वेष नहीं करना चाहिए । राग द्वेष, दोनों त्याज्य हैं । दूसरों को जो कुछ दिया जाता है (वह सब) अपने आपको दिया जाता है । इस सत्य को जान लेने के बाद भला कौन दूसरों को नहीं देना चाहेगा ? अहंता के उदित होने से सब कुछ उदित होगा, अहंता के विलीन होने से सब कुछ विलीन हो जाएगा । हम जितना अधिक विनम्र हो आचरण करेंगे, उतना ही अधिक हमारा हित होगा । मन को **निग्रहित** करके कोई कहीं भी रह सकता है ।

15. आत्म-अन्वेषण का अभ्यास कब तक करना चाहिए ?

जब तक मन में विषय-वासनाएँ रहती हैं तब तक 'मैं कौन हूँ' का अन्वेषण आवश्यक है । ज्यों-ज्यों विचार उठते हैं, त्यों-त्यों (उनके उत्पत्ति स्थान में ही) आत्म-अन्वेषण द्वारा उन सबका नाश करना चाहिए । आत्म स्वरूप की प्राप्ति तक यदि कोई निरन्तर

स्वरूप-स्मरण में रहेगा तो यह एक साधना ही पर्याप्त है । जब तक दुर्ग के भीतर शत्रु हैं, तब तक वे उससे बाहर आते रहेंगे । ज्यों-ज्यों वे बाहर आते हैं तथा उन्हें मारते रहें तो दुर्ग हस्तगत हो जाएगा ।

16. स्वरूप का स्वभाव क्या है ?

यथार्थ में जो अस्तित्वमान है, वह केवल आत्मस्वरूप है । जगत, जीव और ईश्वर इसमें मोती में चाँदी के आभास की भाँति कल्पित प्रतीति हैं । ये तीनों एक ही समय प्रकट होकर एक ही समय लुप्त होते हैं । जिस स्थान पर मैं का किंचित मात्र विचार नहीं होता, वहाँ स्वरूप है, वही मौन है, स्वरूप स्वमेव जगत है, स्वरूप स्वमेव 'मैं' है, स्वरूप स्वमेव ईश्वर है, सब कुछ शिव स्वरूप है ।

17. क्या सब कुछ ईश्वर के कार्य नहीं हैं ?

बिना इच्छा संकल्प या प्रयास के आदित्य उदित होता है और उसकी उपस्थिति मात्र से सूर्यकान्त मणि पत्थर अग्नि उगलता है, कमल खिलता है, पानी वाष्पित होता, लोग विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त होते तथा उन्हें करने के बाद निष्क्रिय होते हैं । जिस प्रकार चुम्बक के समक्ष सूई हिलती है, उसी प्रकार संकल्प विहीन ईश्वर की सन्निधि विशेष मात्र से होने वाले त्रिकर्मों अथवा पंच कृत्यों से नियंत्रित सकल जीव अपने-अपने कर्मानुसार कार्य कर विश्राम करते हैं । इसके विपरीत 'वह' संकल्परहित है, वह किसी कर्म

से बंधा नहीं है । यह ठीक उसी प्रकार है जैसे लोक क्रियाएँ सूर्य को प्रभावित नहीं करतीं या अन्य चारभूत[2] के गुण, अवगुण व्यापक आकाश पर प्रभाव नहीं डाल पाते ।

18. भक्तों में श्रेष्ठ कौन है ?

स्वरूप के रूप में उपस्थित ईश्वर को, जो स्वयं को समर्पित करता है, वह सबसे उत्तम भक्त है । ईश्वर को समर्पित करने का अर्थ है कि आत्मा के अतिरिक्त विचारों को उदित होने के लिए बिना स्थान दिए जो निरन्तर आत्मा में रहता है ।

ईश्वर के ऊपर जो भी भार फेंके जाते हैं, वह उनको वहन करता है । जब परमेश्वर शक्ति सकल चीजों को संचालित करती है तो अपने आपको उसको बिना समर्पित किए, क्यों हम निरन्तर विचार द्वारा चिन्ता करते हैं कि क्या करना और किस प्रकार करना चाहिए ? हम जानते हैं कि रेलगाड़ी सभी बोझ ले जाती है, इसलिए उसके भीतर प्रवेश के उपरान्त हमे छोटा भार रेलगाड़ी में रखकर आराम अनुभव करने की जगह तकलीफ सहते हुए अपना सामान सिर पर क्यों लादे रहना चाहिए ?

19. वैराग्य क्या है ?

जैसे ही विचार उदित होते हैं, उन्हें, उनके जन्म स्थान पर, उनका बिना कोई चिह्न छोड़े तुरन्त नष्ट कर देना वैराग्य है ।

---

2 चारभूत :- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु

जैसे एक गोताखोर अपने कटि पर एक पत्थर बाँधे समुद्र के तल पर तैरता है तथा वहाँ से मोती प्राप्त करता है, उसी प्रकार हममें से प्रत्येक को वैराग्य द्वारा अपने स्वयं के भीतर गोता लगाना चाहिए तथा आत्मा रूपी मोती प्राप्त करना चाहिए ।

20. क्या ईश्वर या गुरु किसी जीव को मुक्ति नहीं दे सकते ?

ईश्वर या गुरु केवल मुक्ति का मार्ग दिखाएँगे, वे स्वयं जीव को मुक्ति की अवस्था में नहीं ले जा सकते ।

वास्तव में ईश्वर एवं गुरु भिन्न नहीं हैं । जिस प्रकार चीते के जबड़े में आया शिकार बाहर नहीं निकल पाता, उसी प्रकार जो गुरु की अनुकंपा-दृष्टि की परिधि में आ गए हैं, वे नष्ट नहीं होंगे बल्कि गुरु द्वारा रक्षित होंगे । यद्यपि हर किसी को ईश्वर या गुरु द्वारा दर्शाए गए मार्ग पर स्वयं प्रयत्न करना एवं मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए । स्वयं को स्वयं के ज्ञान-चक्षु द्वारा जानना है, कोई किसी दूसरे के चक्षु द्वारा कैसे जान सकता है ? क्या वह, जो राम है उसको यह जानने के लिए कि वह राम है, एक दर्पण की आवश्यकता होती है ?

21. मुक्ति की इच्छा रखने वाले को क्या तत्वों का अन्वेषण करना चाहिए?

जिस प्रकार कोई कूड़े को फेंकना चाहता है तो उसे उसका विश्लेषण करने या यह देखने के लिए कि वह क्या है, की

आवश्यकता नहीं होती है, उसी प्रकार जो अपने स्वयं को जानना चाहता है तो उसे स्वरूप को ढकने वाले तत्वों को निरस्त करने के स्थान पर उनकी संख्या गिनने या उनकी विशेषताएँ जानने की आवश्यकता नहीं है । संसार को स्वप्न जैसा मानना चाहिए ।

22. क्या जाग्रत एवं स्वप्न में कोई भेद नहीं है ?

जाग्रत की अवस्था दीर्घ तथा स्वप्न की क्षणिक होती है, इसके अतिरिक्त उनमें कोई भेद नहीं है । जाग्रत में जाग्रत की घटनाएँ जितनी सच लगती हैं, उसी प्रकार स्वप्न के समय स्वप्न की घटनाएँ उतनी ही वास्तविक लगती हैं । स्वप्न में मन एक दूसरा शरीर धारण करता है । जाग्रत एवं स्वप्न दोनों ही अवस्थाओं में नाम, रूप के विचार क्रमशः आते रहते हैं ।

23. क्या मुमुक्षु के लिए पुस्तकें (शास्त्र) पढ़ना उपयोगी है ?

सभी शास्त्र कहते हैं कि मुक्ति पाने के लिए मन को निग्रहित करना चाहिए, उनके उपदेशों का सार है कि मन को शान्त करना चाहिए । एक बार इसे समझ लेने पर पुस्तकों के अत्यधिक अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं है । मन को स्थिर करने के लिए अपने स्वयं के भीतर केवल अन्वेषण करना चाहिए कि वह स्वयं क्या है ? यह अन्वेषण पुस्तकों में कैसे किया जा सकता है ? अपने स्वयं की ज्ञानदृष्टि से अपनी आत्मा को जानना चाहिए । स्वरूप पंचकोशों के भीतर है किन्तु पुस्तकें उनके बाहर हैं । जब अपने स्वयं का अन्वेषण पंचकोशों के निरस्तीकरण से

करना है तो क्या इसको पुस्तकों में करना व्यर्थ नहीं है ? एक समय आएगा जब उसे समस्त सीखी हुई चीजों को भूलना होगा ।

24. सुख क्या है ?

सुख, आत्मा का सहज स्वभाव है । सुख एवं स्वरूप अलग नहीं है । संसार की किसी वस्तु में कोई सुख नहीं है । हम अपने अविवेक के कारण कल्पना करते हैं कि प्रपंच वस्तुओं से सुख प्राप्त करते हैं । मन जब बहुर्मुखी होता है तो दु:ख अनुभव करता है । वास्तव में जब इसकी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं तो यह अपने स्रोत स्थान पर वापिस लौटता है तथा केवल आत्मसुख अनुभव करता है जो कि आत्मा है । इसी प्रकार की स्थिति गहरी नींद, समाधि या मूर्छा की अवस्था में होती है और जब ऐच्छिक वस्तु की प्राप्ति या अनैच्छिक मिट जाता है तो मन अन्तर्मुखी होकर केवल आत्मसुख अनुभव करता है । किन्तु इस प्रकार मन बिना आराम के निरन्तर विचलित रहता, क्रमश: आत्मा के बाहर जाता पुन: इसमें वापिस लौटता है । पेड़ के नीचे छाया सुखकर लगती है जबकि खुले स्थान की गर्मी सहन नहीं होती । एक, जो सूर्य की तपिश में छाया छोड़कर भटकता है तथा वापिस छाया में लौटता है, अविवेकी है । एक विवेकी व्यक्ति स्थायी रूप से छाया में रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी का मन ब्रह्म को नहीं छोड़ता । जबकि इसके उल्टा एक अज्ञानी का मन संसार में घूमता रहता तथा दु:ख की अनुभूति करता है और अल्प समय के लिए आनन्द की अनुभूति के लिए ब्रह्म में वापिस लौटता है । वास्तव में जिसे जगत कहा गया है, वह केवल विचार है । जब जगत विलुप्त होता, जब कोई विचार नहीं रहता

तो मन आनन्द की अनुभूति करता है और जब जगत प्रकट होता है तो उसे दु:खों की अनुभूति होती है ।

25. ज्ञान-दृष्टि क्या है ?

मौन रहना ज्ञानदृष्टि है । मौन रहने का अर्थ मन को आत्मस्वरूप में लीन करना है । यह अवस्था ही ज्ञानदृष्टि कहलाती है । दूसरों के विचार पढ़ना या जानना, भूत, भविष्य एवं वर्तमान का त्रिकाल ज्ञान, दूर देशों के पदार्थों को जानना या ग्रहण करना ; इन सबको कभी ज्ञान-दृष्टि नहीं कहा जा सकता ।

26. वैराग्य तथा ज्ञान के बीच क्या संबंध है ?

वैराग्य स्वयं ज्ञान है । वैराग्य एवं ज्ञान अलग नहीं है । वस्तुत: दोनों एक हैं । वैराग्य आत्मा से मन को किसी वस्तु की ओर जाने से रोकता है । ज्ञान का अर्थ आत्मा के अतिरिक्त किसी वस्तु का प्रकट न होना है । दूसरे शब्दों में किसी अन्य चीज में प्रवृत्त न होना वैराग्य है । स्वरूप का कभी परित्याग न करना ज्ञान है ।

27. अन्वेषण एवं ध्यान में क्या भेद है ?

स्वयं की आत्मा में मन को स्थित करना, अन्वेषण है । हम स्वयं ब्रह्म हैं, सच्चिदानन्द हैं, का निरन्तर भाव ध्यान है ।

28. मुक्ति क्या है ?

बंधन में पड़े अहम् का अन्वेषण करना तथा बंधन से मुक्त अपने स्वयं के यथार्थ स्वरूप को जानना मुक्ति है ।

मैं कौन हूँ ?

(लेख रूप में)

सकल जीव दु:खविहीन हो, सदैव सुखी रहना चाहते तथा सबको अपने आप से सर्वाधिक प्रेम है, जो इस तथ्य के कारण है कि सुख उनकी वास्तविक प्रकृति है । इसलिए सुख जो स्व-स्वभाव है तथा जिसकी अनुभूति मन-विहीन निद्रा में प्रतिदिन होती है, उसको पाने के लिए अपने आपको जानना आवश्यक है । इसके लिए 'मैं कौन हूँ' का ज्ञानविचार प्रमुख साधन है । 'मैं कौन हूँ ?' सप्त धातुओं (रस, रक्त, माँस, मज्जा, मेद, अस्थि, शुक्र) से बना स्थूल शरीर मैं नहीं हूँ । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पाँच विषयों को पृथक-पृथक ग्रहण करने वाली (क्रमश:) कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका- ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ । वचन, गमन, ग्रहण, मलविसर्जन, आनन्द- ये पंचविध क्रियाएँ करने वाली (क्रमश:) वाक्, पाद पाणि, वायु और उपस्थ- ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ । श्वाँसादि पंचकर्म करने वाली प्राणादि वायुपंचक भी मैं नहीं हूँ । संकल्प करने वाला मन भी मैं नहीं हूँ । सर्व विषयों एवं सर्व कर्मों से रहित तथा विषय वासनाओं से युक्त अज्ञान भी मैं नहीं हूँ । उपर्युक्त समस्त को "मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ" (नेति नेति) करने के बाद एकांगी (अवशिष्ट) रहने वाला चैतन्य मैं हूँ, चैतन्य का स्वरूप सच्चिदानन्द है ।

मन जो सकल ज्ञान एवं समस्त क्रियाओं का हेतु (और आधार) है, यदि लीन हो जाए तो जगत-दृष्टि दूर हो जाएगी । जिस

प्रकार कल्पित सर्पज्ञान दूर हुए बिना अधिष्ठान रज्जु-ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार कल्पित जगत-दृष्टि दूर हुए बिना अधिष्ठान (स्वरूप-दर्शन) संभव नहीं है ।

मन, आत्मा में रहने वाली एक अद्‌भुत शक्ति है । वह सकल विचारों को उत्पन्न करता है । समस्त विचारों को दूर कर देखने पर मन जैसी कोई वस्तु पृथक नहीं रहती ; अत: विचार ही मन का स्वरूप है । विचारों के अतिरिक्त जगत जैसी कोई भिन्न वस्तु नहीं है । सुषुप्ति में विचार नहीं है, इसलिए जगत भी नहीं है, जाग्रत एवं स्वप्न में विचार हैं, अतएव जगत भी है । जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से तन्तु बाहर निकालकर जाल बुनती है और फिर उसे अपने भीतर खींच लेती है, उसी प्रकार मन भी अपने भीतर से जगत प्रकट करता, पुन: उसे अपने भीतर लीन कर लेता है, मन जब आत्म स्वरूप से बाहर निकलता है तब जगत प्रकट होता है । इसलिए जगत के प्रकट होने पर स्वरूप दिखाई नहीं देता तथा जब स्वरूप प्रकाशित होता है तब जगत दिखाई नहीं देता । मन के स्वरूप की छानबीन करते जाने पर यह मालूम होगा कि आत्मा ही मन है । 'स्वयं' का अर्थ आत्मा ही है । मन सदैव किसी एक स्थूल का अवलम्ब लिए ही टिक सकता है ; वह एकाकी टिक नहीं सकता । मन ही सूक्ष्म शरीर या जीव कहलाता है ।

इस देह में जो 'मैं' के रूप में उदित होता है, वह मन है । 'मैं विचार' देह में सर्वप्रथम कहाँ से उदित होता है, यह अन्वेषण करने पर विदित होगा कि वह हृदय से उदित होता है । वही मन का उद्‌गम स्थान है । निरन्तर 'मैं', 'मैं' का चिन्तन करते रहने से भी यह 'वहाँ' पहुँचा देगा । मन में उठने वाले सकल विचारों

में 'मैं-विचार' ही प्रथम विचार है । उसके उदित होने के बाद ही अन्य समस्त विचार उदित होते हैं । उत्तम पुरुष के उदित होने के पश्चात ही मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष उदित होते हैं ; उत्तम पुरुष के बिना मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष नहीं टिकते ।

'मैं कौन हूँ ?' अन्वेषण से ही मन निरुद्ध हो सकता है । 'मैं कौन हूँ ?' - अन्वेषण अन्य समस्त विचारों का नाश कर, शव को जलाने वाली लाठी की भाँति स्वयं भी बाद में विनष्ट हो जाएगा । अन्य विचार उठने पर उनको पूरा होने का बिना अवसर दिए यह अन्वेषण करना चाहिए कि 'ये विचार किसे उठे?' चाहे कितने ही विचार क्यों न उठें? प्रत्येक विचार के उठते ही, सतर्क हो, 'यह विचार किसे उठा, इस प्रकार अन्वेषण करने पर मालूम होगा'-मुझे उठा । तब, 'मैं कौन हूँ ?' अन्वेषण से मन अपने उद्गम स्थान को लौट आएगा । उदित हुआ विचार भी लीन हो जाएगा । इस प्रकार अभ्यास करते रहने पर मन की अपने उद्गम स्थल में सुस्थित रहने की शक्ति बढ़ती जाती है । सूक्ष्म मन जब मस्तिष्क एवं इन्द्रियों द्वारा बहिर्मुखी होता है जब स्थूल नाम रूप दृश्यमान होते हैं ; वह जब हृदय में टिका रहता है, तब नाम रूप तिरोहित हो जाते हैं । मन को बाहर निकलने न देते हुए हृदय में सुस्थित रखना अहंमुखता या अन्तर्मुखता कहलाता है । इस तरह मन जब हृदय में अवस्थित हो जाता है, तब मैं, जो सकल विचारों का मूल है, विनष्ट हो, सदैव विद्यमान स्वयं स्वरूप ही प्रकाशित होगा । जहाँ मैं-विचार लेश मात्र भी नहीं रहता, वह स्वयं स्वरूप है । वही मौन कहलाता है । इस प्रकार निश्चल रहने का ही नाम ज्ञानदृष्टि है । निश्चल रहना अर्थात मन को आत्मस्वरूप में विलीन करना ही है । इसके विपरीत दूसरों के

विचार जानना ; त्रिकाल की जानकारी रखना, दूर देशों में घटने वाली बातें जानना - ये सब ज्ञानदृष्टि नहीं हो सकते ।

एक मात्र आत्मा यथार्थ में अस्तित्वमान है । जगत, जीव एवं ईश्वर सीप में चाँदी की तरह, उसमें अध्यारोपण हैं । ये तीनों एक ही समय में दृश्यमान होते तथा एक की समय में अदृश्य होते हैं ; आत्मस्वरूप ही जगत है ; आत्म स्वरूप ही 'मैं' है, आत्मस्वरूप ही ईश्वर है ; सब कुछ शिव स्वरूप है ।

मनोनिरोध के लिए आत्म अन्वेषण के अतिरिक्त और कोई समुचित उपाय नहीं है । अन्य उपायों द्वारा निरोध किया जाए तो मन निरुद्ध सा रहकर पुनः बाहर निकल आएगा । प्राणायाम से भी मन निरुद्ध होगा ; किन्तु प्राण जब तक निग्रहित है, तब तक मन भी निरुद्ध रहेगा, प्राण बाहर निकलते ही मन भी बहिर्गामी होकर वासना वशीभूत हो भटकेगा । मन एवं प्राण दोनों के उद्‌गम स्थान एक ही है । विचार ही मन का स्वरूप है । 'मैं' विचार ही मन का प्रथम विचार है । वही अहंकार है । अहंकार जहाँ से उदित होता है, वहीं से श्वाँस भी निकलता है । जब मन का लय होता है, तब प्राण का भी लय होता है, और जब प्राण का लय होता है, तब मन का भी लय होता है । किन्तु सुषुप्ति में यद्यपि मन लीन रहता है किन्तु प्राण का लय नहीं होता । देह की रक्षा हेतु तथा 'देह मर तो नहीं गई है'- यह संदेह दूसरों को न हो, इसलिए ईश्वर की ऐसी नियति है । जाग्रत एवं समाधि में जब मन लीन होता है तब प्राण भी लयगत होता है । प्राण मन का स्थूल रूप कहलाता है । मृत्यु के समय तक मन प्राण को शरीर में टिकाए रखता, शरीर के मरते समय उसे हर ले जाता है । अतः प्राणायाम मनोनिरोध में सहायक है, किन्तु वह मनोनाश नहीं करेगा ।

प्राणायाम की तरह मूर्ति ध्यान, मंत्र जप और आहार नियम भी मनोनिरोध में सहायक हैं । मूर्तिध्यान और मंत्र जप से मन एकाग्र होता है । सदैव हिलती रहने वाली हाथी की सूँड़ में यदि एक जंजीर दे दी जाए तो जैसे वह हाथी किसी दूसरी चीज को पकड़ने का प्रयास किए बिना, उस जंजीर को ही पकड़े चलता रहता है, उसी प्रकार सदा चंचल रहने वाले मन को भी किसी नाम या रूप में अभ्यस्त किया जाए तो वह उसी को ग्रहण किए रहेगा । चूंकि मन असंख्य विचारों के रूप में फैलता है तथा प्रत्येक विचार अत्यन्त दुर्बल होता है । अभ्यास से शक्तिशाली बने मन को आत्म अन्वेषण सुलभता से सिद्ध होगा । सकल नियमों में श्रेष्ठ-मित सात्विक आहार से मन में सतगुण की वृद्धि होती जो आत्म-अन्वेषण में सहायक है ।

अति दीर्घकाल से चली आने वाली विषय-वासनाएँ समुद्र की तरंगों की तरह भले ही असीमित दिखाई दें, फिर भी वे सब के सब स्वरूप के प्रकाशित होते-होते विनष्ट हो जाएँगी । "क्या ये समस्त विषय वासनाएँ विनष्ट होंगी तथा मैं 'स्वरूप' मात्र में सुस्थित रह सकता हूँ ?"- इस संदेहमय विचार को भी स्थान दिए बिना स्वरूप ध्यान में निरन्तर सुदृढ़ रहना चाहिए । कोई चाहे जितना बड़ा पापी क्यों न हो, 'मैं तो पापी हूँ, मेरा उद्धार कैसे हो सकता है ?- इस प्रकार दीन होकर प्रलाप न करते हुए, मैं पापी हूँ, यह विचार भी बिल्कुल त्याग कर यदि वह स्वरूप-ध्यान में सतत संलग्न रहेगा तो निश्चित ही उसका उद्धार होगा ।'

जब तक मन में विषय-वासनाएँ हैं, तब तक 'मैं कौन हूँ ?' अन्वेषण भी आवश्यक है । ज्यों-ज्यों विचार उठते हैं, त्यों-त्यों उनके उत्पत्ति स्थान में ही अन्वेषण द्वारा उन सबका नाश करना

चाहिए । अन्य विषयों पर ध्यान न देना वैराग्य अथवा निस्पृहता है । अपने आत्मस्वरूप को न त्यागना ज्ञान है । वास्तव में ये दोनों एक ही है । जिस प्रकार गोताखोर लोग अपनी कमर में पत्थर बाँधकर डुबकी लगाते तथा समुद्र के तल में पड़े हुए मोती निकलते हैं, उसी प्रकार हर कोई वैराग्य धारण कर, अपने अन्दर गहरी डुबकी लगाकर आत्म-मोती प्राप्त कर सकता है । स्व स्वरूप प्राप्त होने तक यदि कोई निरन्तर स्व स्वरूप स्मरण में संलग्न रहेगा तो वह एक ही पर्याप्त है । जब तक दुर्ग के अन्दर शत्रु हैं तब तक वे उससे बाहर आते रहेंगे । ज्यों-ज्यों वे बाहर आते हैं, उन्हें मारते रहें तो दुर्ग हस्तगत हो जाएगा ।

ईश्वर एवं सदगुरु वास्तव में भिन्न नहीं हैं । जिस प्रकार व्याघ्र के मुख में गया हुआ शिकार बच नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार जिन पर सदगुरु की कृपा दृष्टि पड़ जाती है, वे अवश्य ही रक्षित होंगे, कभी नष्ट नहीं होंगे पर सबको सदगुरु द्वारा निर्देशित मार्ग का अचूक अनुसरण करना चाहिए ।

आत्मचिन्तन के अतिरिक्त और कोई चिन्तन उठने के लिए किंचित भी अवकाश दिए बिना आत्मनिष्ठा में रहना ही, अपने को ईश्वर को समर्पित करना है । ईश्वर पर चाहे जितना भी भार डालें, वह समस्त भार का वहन कर लेता है । जब एक परमेश्वर शक्ति सकल कार्यों का संचालन करती रहती है, तब भी, हम उसके अधीन हो रहे बिना, 'ऐसा करना चाहिए, वैसा करना चाहिए'-इस प्रकार सदैव क्यों सोचते रहें? रेलगाड़ी सकल भार वहन कर ले जाती है, यह जानते हुए भी उसमें यात्रा करने वाले हम, अपनी छोटी गठरी भी गाड़ी में रख आराम से रहे बिना, उसे अपने सिर पर ढोते हुए क्यों कष्ट उठाते रहें ?

सुख आत्मा का स्वरूप है ; सुख एवं आत्म स्वरूप भिन्न नहीं है । आत्मसुख एक ही है ; वही सत्य है । प्रपंच के किसी भी वस्तु में सुख नहीं है । अपने अविवेक के कारण हम सोचते हैं कि उनसे सुख मिलता है । मन जब बाहर निकलता है तब दु:ख का अनुभव करता है । वास्तव में जब कभी हमारे विचार पूर्ण होते हैं, तब वह अपने उद्‌गम स्थान पर लौटकर आत्मसुख का ही अनुभव करता है । उसी प्रकार सुषुप्ति, समाधि और मूर्छा के समय में तथा इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने पर और अनैच्छिक के दूर होने पर भी मन अन्तर्मुखी हो आत्मसुख का ही अनुभव करता है । इस प्रकार मन आत्मा को छोड़कर बाहर जाता हुआ तथा अन्दर लौट आता हुआ अविश्राम भटकता रहता है । वृक्ष के नीचे पेड़ की छाया सुखमय है । बाहर सूरज की धूप कड़ी है । बाहर भटकने वाला मनुष्य छाया में जाकर शीतलता अनुभव करता है । थोड़ी देर बाद, बाहर निकलकर, गर्मी की भीषणता सह न पाने पर पुन: पेड़ के नीचे जाता है । इस प्रकार वह छाया से धूप में और धूप से छाया में आता रहता है । ऐसा करने वाला अविवेकी है । किन्तु विवेकी छाया छोड़कर नहीं जाता । उसी प्रकार ज्ञानी का मन भी ब्रह्म से अलग नहीं होता । किन्तु अज्ञानी का मन तो प्रपंच विषयों में भटकते हुए दु:ख भोगता तथा स्वल्प समय के लिए ब्रह्म में लौट आने पर सुख पाता रहता है । जगत, विचार ही है । जब जगत अदृश्य होता है अर्थात जब विचार नहीं रहते, तब मन आनन्द का अनुभव करता है ; जब जगत दृश्यमान होता है, तब वह दु:ख भोगता है ।

जिस प्रकार किसी इच्छा, संकल्प या प्रयास के बिना उदित सूर्य के सान्निध्य मात्र से सूर्यकान्त मणि आग उगलती है, कमल खिलता, जल वाष्पित होता है, जगत के लोग अपने कार्यों में

प्रवृत्त हो उन्हें करके निष्क्रिय होते हैं और जैसे चुम्बक के सम्मुख सूई हिलती है, उसी प्रकार संकल्प रहित ईश्वर के सन्निधान मात्र से होने वाले त्रिकर्मों अथवा पंचकृत्यों से नियंत्रित सकल जीव अपने-अपने कर्मानुसार कार्य कर विश्रान्त करते हैं । इसके विपरीत 'वह' संकल्प रहित नहीं है । कोई भी कर्म उसे नहीं लगता, ठीक उसी प्रकार जैसे सांसारिक कर्म सूर्य को स्पर्श नहीं करते और अन्य चतुर्भूतों के गुण-अवगुण व्यापक आकाश को नहीं छूते ।

चूँकि सभी शास्त्रों में यह कहा गया है कि मुक्ति पाने हेतु मनोनिग्रह करना चाहिए । यह जानने के बाद कि मनोनिग्रह ही सकल शास्त्रों का अंतिम उपदेश है, शास्त्र ग्रन्थों का अपरिमित रूप से अध्ययन करते रहने का कोई प्रयोजन नहीं है । मनोनिग्रह करने के लिए 'मैं कौन हूँ?' के द्वारा अपना अन्वेषण करना चाहिए । शास्त्र ग्रन्थों में यह अन्वेषण कैसे किया जा सकता है ? अपने आपको अपने ज्ञान चक्षु से जानना चाहिए । क्या राम को 'मैं कौन हूँ?' जानने के लिए दर्पण की आवश्यकता है ? अहं पंचकोशों के भीतर है ; शास्त्र ग्रन्थ तो उनके बाहर है । अत: अपने को जिसका अन्वेषण पंचकोशों को भी दूर कर किया जाना चाहिए, शास्त्र ग्रन्थों में ढूँढना व्यर्थ ही है । 'बंधन में पड़ा हुआ' 'मैं कौन हूँ?' खोज द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेना ही मुक्ति है । सदा सर्वदा मन को आत्मा में सुस्थित रखना ही आत्म-अन्वेषण कहलाता है । ध्यान में अपने को सच्चिदानन्द की भावना करना है । जो कुछ सीखा गया है, वह सब एक दिन भूलना होगा ।

यदि कोई, बाहर फेंकने योग्य, एकत्रित कूड़ा-करकट की जाँच करने लगे तो वह जिस तरह बेकार है, ठीक उसी तरह कोई व्यक्ति जिसे अपने को जान लेना चाहिए, अपने को आवृत

किए हुए सकल तत्वों को एक साथ दूर किए बिना, यदि उनकी गणना करता है या उनके गुणों को विवेचन करता है तो वह व्यर्थ है । प्रपंच को एक स्वप्न जैसा मानना चाहिए ।

जाग्रत दीर्घ है और स्वप्न क्षणिक है ; इसके अतिरिक्त इनमें कोई भेद नहीं है । जाग्रत में होने वाले व्यवहार जितने वास्तविक मालूम होते हैं, स्वप्न में होने वाले व्यवहार भी उसी तरह उतने ही वास्तविक दिखाई देते हैं । जाग्रत तथा स्वप्न दोनों अवस्थाओं में विचार एवं नाम रूप एक ही समय उपस्थित रहते हैं ।

शुभ मन और अशुभ मन दो नहीं हैं । मन एक ही है । वासनाएँ ही शुभ एवं अशुभ दो प्रकार की होती हैं । मन जब शुभ वासनाओं के वशीभूत रहता है तब वह शुभ मन तथा अशुभ वासनाओं के वशीभूत रहता है तब वह अशुभ मन कहलाता है। दूसरे लोग चाहे जितने भी बुरे दिखायी दें, फिर भी उनसे घृणा नहीं करनी चाहिए । राग एवं द्वेष दोनों ही बुरे हैं । प्रपंच विषयों में मन अधिक नहीं लगाना चाहिए । जहाँ तक हो सके, दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । दूसरों को जो कुछ दिया जाता है, वही अपने को भी दिया जाता है, यह सत्य जान लेने पर कौन दूसरों को दिए बिना रहेगा ।

अहंता उदित होने पर सब कुछ उदित होगा ; अहंता लीन होने पर सब कुछ विलीन हो जाएगा । हम जितना अधिक विनम्र हो, आचरण करते हैं, उतना ही अधिक हमारा हित होगा । यदि मन निग्रहित किए रहें, तो चाहें कहीं भी रह सकते हैं ।